क्लिनिकल ट्रायल्स का फैलता उद्योग

आजकल दवाइयों के परीक्षणों के लिए भारत एक पसंदीदा जगह बनता जा रहा है। कंपनियां दवाइयों के परीक्षण भारत में करने को उत्सुक नज़र आ रही हैं। हाल ही में **रितु मेहदीरत्ता**, **दीपक कुमार परीदा** और **गायत्री सबरवाल** ने इस मुद्दे के विविध आयामों की पड़ताल करते हुए एक आलेख करंट साइन्स के 25 नवंबर 2007 के अंक में प्रकाशित किया है। इस मुद्दे की अहमियत के मद्देनज़र प्रस्तुत है उनके आलेख का सारांश।

आम तौर पर इन्सानी परीक्षण यानी क्लिनिकल ट्रायल के बारे में माना जाता है कि इसके तहत नई दवाइयों के परीक्षण किए जाते हैं। ये परीक्षण प्रायः किसी कंपनी द्वारा किए जाते हैं या कंपनी यह काम किसी क्लिनिकल शोध संस्था से करवा सकती है। इसके अलावा सार्वजनिक संस्थाएं (जैसे आई.सी.एम.आर.) भी इस तरह के परीक्षण करती हैं। कई अस्पताल भी क्लिनिकल अनुसंधान करते हैं।

क्लिनिकल ट्रायल सिर्फ दवाइयों से सम्बंधित हों, ऐसा ज़रूरी नहीं है। इस तरह की ट्रायल रोकथाम, रोग निदान, जीवन की गुणवत्ता या रोग प्रसार की स्थिति से सम्बंधित भी हो सकती हैं। दरअसल, करीब 30 वर्ष पहले यह रिपोर्ट किया गया था कि ऐसे 60 प्रतिशत अध्ययन जैव-चिकित्सा से सम्बंधित थे और उनमें से भी मात्र आधों में ही किसी दवा वगैरह का सेवन करने की बात थी। करीब 33 प्रतिशत शोध तो व्यवहार के अध्ययन से सम्बंधित थे। कहने का मतलब है कि क्लिनिकल ट्रायल तरह-तरह की होती है और हरेक में अलग तरह के जोखिम होते हैं।

ट्रायल के प्रकार और प्रायोजकों में विविधता के अलावा ट्रायल के स्थान में भी काफी विविधता होती है। जैसे कई ट्रायल के लिए कोई बड़ा अस्पताल उपयुक्त होता है क्योंकि वहां बड़ी संख्या में मरीज़ मिल जाते हैं। इसके अलावा शहरी मरीज़ों का नियमित निरीक्षण भी आसान होता है। वैसे इस तरह के अध्ययन शैक्षिक स्थिति में भी किए जा सकते हैं।

ट्रायल की प्रक्रिया

प्रयोगशाला में और जन्तु अध्ययनों से प्राप्त जानकारी के आधार पर प्रथम मानव उपयोग यानी प्री-क्लिनिकल ट्रायल की शुरुआत होती है। ट्रायल के लिए डॉक्टरों का चयन किया जाता है। ये डॉक्टर अपनी संस्था की नैतिकता समिति को आवेदन देकर अध्ययन के प्रोटोकॉल को स्वीकृत करवाते हैं और ट्रायल के लिए अनुमति प्राप्त करते हैं। हर अस्पताल/संस्था में एक नैतिकता समीक्षा समिति होती है। अनुमति मिलने के बाद सम्बंधित दवाई इन डॉक्टर्स को उपलब्ध कराई जाती है। अनुसंधान में शामिल व्यक्तियों (सब्जेक्ट्स) को दवाइयां दी जाती हैं और परिणामों का विस्तृत रिकॉर्ड रखा जाता है।

इस प्रक्रिया के दौरान किसी भी व्यक्ति को संभावित जोखिम से बचाने के लिए कई उपाय किए जाते हैंः

1. अध्ययन के प्रायोजक तथा शोध पत्रिकाओं के संपादकों को लेकर एक प्रोटोकॉल समिति गठित की जाती है जो ज़रूरी होने पर प्रस्तावित प्रोटोकॉल में संशोधन करती है।

2. ऐसे किसी भी परीक्षण के लिए भारत के औषधि महानिदेशक की अनुमति अनिवार्य है।

3. नैतिकता बोर्ड का गठन जिसमें डॉक्टरों के अलावा चिकित्सा शोधकर्ता, वकील तथा आम लोगों को भी शामिल किया जाता है। एक बात गौरतलब है कि किसी भी हालत में सब्जेक्ट्स के नाम ट्रायल के प्रायोजक को नहीं बताए जाते।

4. अनुसंधान में शामिल व्यक्तियों (सब्जेक्ट्स) की जानकारीशुदा सहमति अनिवार्य होती है।

5. प्रतिकूल घटना की सूचना कई व्यक्तियों को दी जाती हैः उस ट्रायल के समस्त शोधकर्ता, नैतिकता बोर्ड, डैटा सेफ्टी एण्ड मॉनिटरिंग बोर्ड, स्थानीय औषधि निगरानी समिति, विश्व स्वास्थ्य संगठन, स्थानीय औषधि अधिकारी। यदि प्रतिकूल घटनाओं में कोई पैटर्न नज़र आए तो ट्रायल

रोकी जा सकती है।

6. ट्रायल की संचालन समिति को अधिकार होता है कि वह अध्ययन को पूरा होने से पहले ही रुकवा दे और देखे कि क्या दवाई कारगर व सुरक्षित ढंग से काम करती है। जैसे यदि वह दवा स्पष्ट रूप से निष्प्रभावी है तो इस ट्रायल को जारी रखना अनैतिक होगा। ऐसे में ट्रायल को रोक दिया जाता है। दूसरी ओर यदि जांचा जा रहा उपचार प्रभावी है तो ट्रायल रोक दी जाती है ताकि जिन व्यक्तियों को तुलना के लिए प्लेसिबो दिया जा रहा था या वर्तमान में उपलब्ध सर्वोत्तम उपचार दिया जा रहा था, उन्हें भी नई दवाई का लाभ मिल सके। दोनों ही मामलों में ट्रायल को जारी रखना अनैतिक होगा।

भारत में क्लिनिकल ट्रायल

2004 में बायोस्पेक्ट्रम ने ऐसे20 सी.आर.ओ. (क्लिनिकल शोध संस्थाओं) की सूची प्रकाशित की थी जो भारत में ट्रायल करते हैं। आज इनकी संख्या 100 से अधिक है। औषधि आवेदन मिल रहे हैं, इनमें से कई आवेदन उन ट्रायल्स के लिए हैं जिन्हें विकसित देशों में अनुमति मिल चुकी है।

यह सवाल स्वाभाविक है कि भारत में क्लिनिकल ट्रायल्स के क्षेत्र में यह बाढ़ क्यों आई है? इसमें दो तरह के कारक हैं: आकर्षण और विकर्षण।

आकर्षण

ट्रायल्स को भारत में आकर्षित करने वाला एक प्रमुख कारण तो भारत सरकार द्वारा किए गए कुछ नीतिगत बदलाव हैं। पहले यह नियम था कि किसी दवाई के चरण-1 की ट्रायल की अनुमति तभी मिलती थी जब वह दवा किसी भारतीय कंपनी द्वारा विकसित की गई हो या अन्य कंपनियों के मामले में उसकी प्रथम चरण की ट्रायल के आंकड़े अन्य देशों से प्राप्त हो चुके हों। यह नियम इसलिए था कि विदेशी कंपनियां भारतीय लोगों को गिनी पिग न बनाने पाएं। अब यह नियम बदल गया है और अब विदेशी कंपनी द्वारा विकसित दवा की प्रथम चरण की ट्रायल यहां हो सकती है बशर्ते कि वह भारत की स्वास्थ्य समस्या से सम्बंध रखती हो।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ है कि पहले भारत में ट्रायल अन्यत्र चल रही ट्रायल से एक चरण पीछे ही चल सकती थी मगर अब भारत में अन्य देशों के समांतर ट्रायल की अनुमति दी जाती है। उक्त नीतिगत बदलावों के अलावा आकर्षण के कुछ और कारण भी हैं।

जैसे हमारी बड़ी आबादी के चलते हर बीमारी के पर्याप्त ऐसे मरीज़ मिल जाते हैं जिन्हें उस बीमारी के लिए कभी कोई उपचार नहीं मिला है। इसके अलावा हमारा चिकित्सा जगत अपना अधिकांश कामकाज अंग्रेज़ी में करता है। एक गौरतलब बात यह है कि हमारे देश में अब संक्रामक रोगों के अलावा पश्चिमी देशों की बीमारियां भी काफी नज़र आने लगी हैं। दवा कंपनियों की रुचि इन बीमारियों में ज़्यादा होती है। फिर एक तथ्य यह भी है कि भारत में अब प्रक्रिया पेटेन्ट के अलावा उत्पाद पेटेन्ट को भी मान्यता दी जाने लगी है। एक कारण यह भी है कि अब भारत में 'अच्छे चिकित्सकीय कामकाज' की सुविधाएं भी उपलब्ध हैं।

उद्योगों के अनुसार मरीज़ों की ऊंची दर्ज संख्या, मरीज़ों द्वारा बेहतर अनुपालन, और मरीज़ों का ट्रायल में बने रहना, अच्छी अस्पताल सुविधाएं और सशक्त सूचना तकनीक क्षमताओं के चलते भारत क्लिनिकल ट्रायल्स के लिए एक आकर्षक स्थान बन गया है।

एक आखिरी कारण यह है कि अब यू.एस. का खाद्य व औषधि प्रशासन दवाइयों की मंज़ूरी के आवेदनों के साथ भारतीय ट्रायल्स के आंकड़ों को भी स्वीकार करने लगा है।

विकर्षण

कई कारणों से यू.एस. जैसे देशों में क्लिनिकल ट्रायल्स करना मुश्किल हो गया है। वहां सबसे पहली चिंता तो यह है कि ट्रायल कौन कर रहा है। 1980 के दशक तक तो अधिकांश ट्रायल्स अकादमिक व्यवस्था के तहत की जाती थी। 1990 के दशक में स्वास्थ्य प्रबंधन संस्थान अस्तित्व में आए और दवाइयों की कीमतों की सीमा निर्धारित हो गई। इस नई व्यवस्था में मुनाफा कमाने के लिए कंपनियों को

वर्तमान दवाइयों की बिक्री बढ़ाना और नई-नई दवाइयों की खोज करना ज़रूरी हो गया। अकादमिक व्यवस्था के तहत नई दवाइयों का विकास उतना आसान नहीं था क्योंकि वहां रफ्तार की चिंता किसी को नहीं रहती। साथ ही अकादमिक सख्ती व नैतिकतापूर्ण अनुसंधान की शर्तों के चलते काम धीमा पड़ जाता है। ऐसे में दवा कंपनियों ने निजी डॉक्टरों का रुख किया और क्लिनिकल शोध संस्थान अस्तित्व में आए। ये निजी संस्थान रफ्तार को ज़्यादा महत्व देते हैं। कंपनियों को लगता है कि इन नए संस्थानों की मदद से भारत में काम करना सस्ता भी है और इसमें गति भी अच्छी होती है।

क्लिनिकल ट्रायल में नैतिकता के कई मुद्दे सामने आए हैं। जैसे एक ट्रायल के दौरान लोगों को सिर्फ इसलिए दवाइयों से वंचित रखा गया था कि प्रयोग पूरा हो सके। इसके अलावा भी कई मुद्दे प्रकाश में आते रहे हैं।

- धोखाधड़ी, आंकड़ों की हेराफेरी
- ट्रायल में समस्या पैदा होने पर भी शोधकर्ताओं की चुप्पी
- क्लिनिकल शोध के लिए संस्थाओं को भारी-भरकम वित्तीय प्रलोभन
- मरीज़ों को ट्रायल में भर्ती करने के लिए शोधकर्ताओं/डॉक्टरों को भारी भुगतान
- मरीज़ों को पूरी जानकारी न देना (खासकर हितों के टकराव सम्बंधी)
- अनुभवहीन डॉक्टरों द्वारा ट्रायल
- ट्रायल में व्यक्तियों को भर्ती करने का दबाव
- सहमति के प्रपत्र अबूझ भाषा में लिखे जाना
- बहु-स्थलीय शोध में अलग-अलग मापदण्ड अपनाया जाना

विकर्षण का दूसरा कारण लोगों के एहसास से सम्बंधित है। जिस ढंग से ट्रायल्स की जाती हैं, उसकी वजह से पश्चिमी देशों में लोग क्लिनिकल शोध से चिढ़-से गए हैं। इसलिए इन ट्रायल्स में लोगों को जुटा पाना वहां बहुत मुश्किल होता है।

तीसरा मुद्दा नियमन सम्बंधी है। पिछले कुछ वर्षों में कई अध्ययन हुए हैं तथा संस्थागत समीक्षा बोर्ड द्वारा गहन निगरानी की मांग की गई है। इसके अलावा खुद इन बोर्ड्स के कामकाज की निगरानी की मांग उठी है। कुल मिलाकर पश्चिमी देशों में क्लिनिकल शोध करना महंगा व समयखर्ची हो गया है। क्लिनिकल ट्रायल्स से जुड़ा एक मुद्दा यह भी है कि यह संभावना पहचानी गई है कि लोगों के अलग-अलग समूहों में दवा की प्रभाविता अलग-अलग हो सकती है। इसलिए आजकल खाद्य व औषधि प्रशासन मांग करता है कि ट्रायल विभिन्न लोगों पर की जाए।

अब बात आती है कि भारत में वर्तमान स्थिति क्या है। दवा कम्पनियों के अनुसंधान व विकास बजट का एक बड़ा हिस्सा क्लिनिकल अनुसंधान से सम्बंधित होता है। वर्ष 2004 में यू.एस. उद्योग ने अनुसंधान व विकास पर 33 अरब डॉलर खर्च किए थे और इसमें 3.3 करोड़ डॉलर भारत में क्लिनिकल अनुसंधान पर खर्च किए गए थे। यानी यू.एस. में हुए खर्च का करीब 0.1 प्रतिशत। एक अनुमान के मुताबिक पश्चिमी कंपनियां वर्ष 2010 तक भारत में 1.5 अरब डॉलर खर्च करने लगेंगी। अर्थात स्थानीय रूप से इस उद्योग के विकास की संभावनाएं भरपूर हैं। सवाल तो यह है कि क्या भारतीय हालात इस वृद्धि को ज़िम्मेदारीपूर्वक संभालने को तैयार है। जानकार लोग बताते हैं कि इस मामले में एक प्रमुख अवरोध तृतीयक डॉक्टरों की कमी का है। ट्रायल्स की बढ़ती संख्या को संभालने के लिए भारत में ऐसे डॉक्टर्स पर्याप्त नहीं हैं। अक्टूबर 2005 में हैदराबाद में क्लिनिकल ट्रायल्स को लेकर एक वर्कशॉप हुआ था। इस वर्कशॉप में विभिन्न तबकों के लोगों ने शिरकत की थी और कई सिफारिशें दी थीं। इस वर्कशॉप में भारत में क्लिनिकल ट्रायल्स की प्रमुख चिंताए उभरकर आईं।

नैतिकता के मुद्दे

यू.एस. में तो क्लिनिकल ट्रायल्स दशकों से चले रहे हैं। समय के साथ कई समस्याएं पहचानी गई हैं, जिनमें कुछ का सम्बंध नैतिकता से है। पिछले दो दशकों में ऐसे कई मुद्दे विभिन्न ट्रायल्स के दौरान उभरे हैं और पश्चिमी

देशों की नियमन प्रणाली में सतत परिवर्तन होते रहे हैं। हालांकि इस नियमन प्रणाली की काफी आलोचना हुई है मगर हज़ारों ट्रायल्स में इक्का-दुक्का हादसों से पता चलता है कि प्रणाली कमोबेश ठीक काम कर रही है।

भारत के संदर्भ में नैतिकता का मुद्दा काफी पेचीदा है। एक ओर तो सामाजिक-आर्थिक विषमता, साक्षरता व शिक्षा के विभिन्न स्तर और भाषाओं की बहुलता जैसे सामान्य मुद्दे हैं। दूसरी ओर ट्रायल से सम्बंधित विशिष्ट मुद्दे हैं। जैसे आम तौर पर मरीज़ डॉक्टर का सम्मान करते हैं और मानकर चलते हैं कि डॉक्टर उनका हितैषी है। इसी प्रकार से ट्रायल में शामिल होने या न होने का निर्णय कई बार व्यक्ति नहीं बल्कि परिवार करता है। और अब विदेशी कंपनी की ओर से अधिक से अधिक ट्रायल स्थानीय स्तर पर करने के आग्रह की वजह से नए मुद्दे जुड़ गए हैं।

ट्रायल के संदर्भ में दो मुद्दे निहायत अहम हैं। एक तो यह है कि नैतिकता समिति एकदम बढ़िया काम करे। दूसरा है कि शोध के सब्जेक्ट्स की सहमति सचमुच जानकारी पर आधारित हो। इस संदर्भ में एक लतीफा मशहूर है कि डॉक्टर के पास जानकारी होती है और मरीज़ सहमति देता है। स्पष्ट है कि हालत अच्छी नहीं है। इसके अलावा इस तरह के सामाजिक मुद्दों पर भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि क्या ट्रायल में शरीक होने का निर्णय महिलाएं सचमुच स्वतंत्रता से कर पाती हैं। भारत के संदर्भ में जानकारीशुदा सहमति के लिए शायद विशेष प्रशिक्षण की ज़रूरत होगी।

इस संदर्भ में प्लेसिबो का मुद्दा भी पेचीदा है। कई लोगों को यह ठीक नहीं लगता वैसे हेलसिंकी दिशानिर्देशों में कुछ विशेष परिस्थितियों में प्लेसिबो की अनुमति दी गई है। दूसरी ओर, यू.एस. खाद्य व औषधि प्रशासन प्रायः प्लेसिबो के उपयोग का आदेश देता है।

चर्चा से स्पष्ट है कि क्लिनिकल ट्रायल्स पेचीदा होती हैं। अलबत्ता सारी दिक्कतों के बावजूद क्लिनिकल ट्रायल उद्योग भारत में बढ़ता जा रहा है। शायद आर्थिक रूप से यह सफल भी रहेगा। मगर आवश्यकता इस बात की है कि यह सफलता नैतिक रूप से भी खरी हो। गैर सरकारी संस्थाओं, मीडिया तथा क्लिनिकल शोध में रुचि रखने वालों को चाहिए कि वे तथ्यों से वाकिफ हों और मुद्दों को समझें।

साथ ही साथ क्लिनिकल शोधकर्ताओं और प्रायोजकों को भी ध्यान देना होगा कि वे नैतिक शॉर्टकट न अपनाएं। भारत संभवतः ट्रायल्स की इस बाढ़ के लिए तैयार नहीं था। इसलिए सीखने की प्रक्रिया भी साथ-साथ चल रही है मगर यह ध्यान रखना होगा कि इस प्रक्रिया में नैतिक मुद्दों को ताक पर न रखा जाए। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***